International Research Journal of Human Resource and Social Sciences
ISSN(O): (2349-4085) ISSN(P): (2394-4218)
Impact Factor 5.414 Volume 5, Issue 12, December 2018
Website-www.aarf.asia,**Email**:editor@aarf.asia, editoraarf@gmail.com

मुक्तिबोध की कविता में झांकता हमारा समय

- **अरबिंद कुमार साह**
(अतिथि अध्यापक)
प्रसन्नादेव वूमेंस कॉलेज
जलपाईगुड़ी
arbindslg@gmail.com

" मुझे कदम-कदम पर
चौराहे मिलते हैं
बांहें फैलाए!
एक पैर रखता हूँ
कि सौ राहें फूटतीं,
मैं उन सब पर से गुजरना चाहता हूँ..."1

आधुनिक हिंदी कविता के इतिहास में निराला के बाद मुक्तिबोध ही शायद एक ऐसे कवि के रूप में याद किए जाते हैं, जिनका जीवन ही कविता बन जाती है। उन्होंने अपने जीवन में भोगे हुए क्षण को, अपने समय की विसंगतियों, विडंबनाओं व दहशत को ही काव्य का रूप दे दिया। इसके बावजूद मुक्तिबोध की कविता आज केवल अपने समय का प्रतिनिधित्व नहीं करती, उनमें आज का युग भी किसी-न-किसी रूप में अर्थ व वाणी पा रहा है। मुक्तिबोध की कविताओं का सृजन अपने समय की विसंगति व समाज की बुनियादी चिंता को लेकर हुआ। एक ऐसा समय व समाज, जिसमें उपभोक्तावादी अवसरवादिता की बाढ़ थी, फासिस्ट मानसिकता का आतंक था, सत्ता व पूजी का षड्यंत्र था, व्यामोह, झांसे व कुटिलताएं थीं; पर साथ ही आंदोलन और हड़ताल भी। और उसे दबाने के लिए तत्पर शासन का तानाशाही रवैया भी। पर सवाल यह है कि क्या यह मात्र उनका ही समय था? उत्तर है नहीं। इसमें हमारा आज का समय भी है, वह समाज भी, जिसमें कई तरह के प्रश्न सुरसा की भांति मुंह बाएं खड़े हैं। वे प्रश्न हमारे कर्ता-धर्ता पर हैं, साथ ही पूरी-की-पूरी मूल्य व्यवस्था पर भी। यह प्रश्न है कि आज जो व्यवस्था चल रही है, देश जिस बदहाल स्थिति में है; क्या उसी व्यवस्था व स्थिति को प्राप्त करने हेतु हमने आजादी की इतनी लंबी लड़ाई लड़ी? क्या इसी के लिए हमारे असंख्य पूर्वजों ने अपने प्राणों की आहुति दे दी? यदि नहीं, तो आजादी के बाद भी इतनी बदहाली क्यों है? दहशत क्यों है? खौफ़ क्यों है? आतंक क्यों है? डर का साम्राज्य क्यों फैला है? आज अंधेरा इतना सघन क्यों हो गया है? सवाल बहुतेरे हैं, जिससे न सिर्फ मुक्तिबोध का समय जूझ रहा था, बल्कि हमारा समय व समाज भी टकरा रहा है।

© Associated Asia Research Foundation (AARF)
A Monthly Double-Blind Peer Reviewed Refereed Open Access International e-Journal - Included in the International Serial Directories.

शमशेर की एक प्रसिद्ध कविता का अंश है: "काल तुझसे होड़ है मेरी/ अपराजित तू- तुझमें अपराजित मैं वास करूं।"2 मुक्तिबोध की कविता भी, ऐसा लगता है, काल का अतिक्रमण कर कालजयी रचना बन जाती है। काल से होड़ करती हुई ये कविताएं तत्कालीन समय और समाज में जितनी प्रासंगिक थीं, उससे भी ज्यादा आज हो गई हैं। इसमें बात चाहे 'अंधेरे में' की हो, 'चांद का मुंह टेढ़ा है' का हो, 'चंबल की घाटी में' हो, 'भूल-गलती' हो या इसी तरह की अन्य कविताएं। वस्तुतः मुक्तिबोध की ये कविताएं ऐसी रचना हैं, जो अपने विषय वस्तु में कल की नहीं, वरन् हमारे आज की कविता प्रतीत होती है, जिससे आज की नई पीढ़ी सर्वाधिक प्रेरणा ग्रहण कर रही है। मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं में जहां कई बड़ी बातें कही हैं, वहीं कुछ मूल सूत्र भी दिए हैं। मसलन: 'पीस गया वह भीतरी/ औ' बाहरी दो कठिन पाटो बीच/ ऐसी ट्रेजडी है नीच!!', 'पूंजी से जुड़ा हृदय बदल नहीं सकता', 'मर गया देश, अरे जीवित रह गए तुम', 'सब चुप, साहित्यिक चुप और कविजन निर्वाक्/ चिन्तक, शिल्पकार, नर्तक चुप हैं', 'तोड़ने होंगे गढ़ और मठ सभी', 'अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने ही होंगे' आदि। हम इन पंक्तियों व सूत्रों के आलोक में ही मुक्तिबोध की कविताओं की वर्तमान अर्थवत्ता को समझने की चेष्टा करेंगे।

ऊपर जिन रचनाओं का जिक्र किया गया, उनका दौर वह था, जब देश के प्रथम प्रधानमंत्री द्वारा मिश्रित अर्थव्यवस्था वाली लोक कल्याणकारी राज्य की परिकल्पना की गई थी। लोगों को सुनहरे सपने दिखाए गए। भ्रम की सृष्टि हुई। मध्यवर्ग व बौद्धिक समाज के लोगों में अनेक सम्मोहन पैदा किया गया। आश्वासनों के सूर्य को गगन में चमकाया गया। पर इस मिश्रित अर्थव्यवस्था वाली लोकलुभावनपूर्ण रूप के पार्श्व में देश को पूंजी के कर्ता-धर्ता साम्राज्यवादी शक्तियों को समर्पित करने का क्रम चल रहा था। और इन सबमें पूंजी के जूनियर पार्टनर चुप थे। मुक्तिबोध ने इस स्थिति को भाँप लिया। जिस तरह कोई सयाना धरती से कान लगाकर दूर से आती घोड़ों की थाप सुनकर गांववालों को सतर्क कर देता है, कुछ वैसी ही बात मुक्तिबोध में थी। वे बदलते समय में फासिस्ट मानसिकता की आहटों को बहुत ध्यान से सुन रहे थे, समझ रहे थे। वे देख रहे थे चांद की विकृति को।पहचान रहे थे अंधेरे के साम्राज्य को। भविष्य में मुक्तिबोध के काव्य में यह अंधेरा कई रूपों में सामने आता है। यह अंधेरा भूल-गलती का नतीजा था। इसी कारण मुक्तिबोध को लगता है--

"भूल-गलती
आज बैठी है जिरहबख्तर पहनकर
तख्त पर दिल के;
चमकते हैं खड़े हथियार उसके दूर तक,
आँखें चिलकती हैं नुकीले तेज पत्थर सी,
खड़ी हैं सिर झुकाए
सब कतारें
बेजुबाँ बेबस सलाम में,
अनगिनत खंभों व मेहराबों-थमे
दरबारे आम में।"3

मुक्तिबोध के यहां की भूल-गलती से व्याप्त अंधेरे को उनकी गुप्त पीड़ा की उपज में समेटना सही नहीं है। असल में यह समय का यथार्थ था। ऐसा यथार्थ, जिसमें व्यामोह, झांसे व कुटिलताएं थीं । ऐयारी चांदनी के अंदर लोगों की तकलीफें थीं। असल में यह समाज का अंधकार था। ऐसा अंधकार, जिसे प्रेमचंद ने गश खाकर गिरते हुए होरी की आंखों में देखा था, जिसे बाद में दुष्यंत कुमार ने देखा और कहा था-

"मैं इन बेपनाह अंधेरों को कैसे सुबह कह दूं
मैं इन नजारों का अंधा तमाशबीन नहीं।"4

इसी अंधकार को कभी निराला ने भी देखा था:

"है अमानिशा, उगलता गगन घन अन्धकार
खो रहा दिशा का ज्ञान, स्तब्ध है पवन-चार।"5

इसी अंधेरे को मुक्तिबोध ने न सिर्फ देखा, बल्कि उसके विकृत व भयावह रूप को अपने जीवन में भी अनुभव किया-

"गहन रहस्यमय अंधकार-ध्वनि-सा
अस्तित्व जनाता
अनिवार कोई एक।"6

यह ऐसा अंधेरा था, जिसमें फासिस्ट प्रवृत्ति का उभार था, जिसमें धाक, भीड़- भड़क्का, शोषण की अति मात्रा थी, स्वार्थों की सुख-यात्रा थी। साथ ही उस पर कुलबुलाती अर्धमृत सभ्यता, सत्ता व पूंजी की गिद्ध-सभा, बुद्धिजीवियों की उपभोक्तावादी अवसरवादिता और उन सबमें सिसकती, सहमती विराट उत्पीड़ित जनता थी। इसलिए मुक्तिबोध आशंकित थे, चिंतित थे कि "कहीं हमारे भारत में ऐसा-वैसा न हो।"7 चिंता इसलिए भी थी कि ऐसा नहीं होना था। आजादी मिलने के साथ तो इस अंधेरे को खत्म होते जाना था। लेकिन यह और भी बढ़ता गया। मुक्तिबोध ने इसे पहचान लिया। उन्होंने समझ लिया कि लोकशासन का यह दावा लोकमंगल का दावा नहीं, बल्कि प्रपंच मात्र है। एक छल है, जिसमें शासन सत्ता एक फासिस्ट सत्ता के रूप में उभर आने की पूरी कोशिश कर रही है। और इसमें सहायक की भूमिका में हैं -बुद्धिजीवी। इसलिए रामविलास जी कहते हैं, "मुक्तिबोध को इस बात का श्रेय है कि हिंदी के बुद्धिजीवियों में जिस नये अवसरवाद का विकास हुआ, उसे उन्होंने पहचाना। उन्होंने साम्राज्यवाद से उसके संबंध का उल्लेख एक से अधिक बार किया और उसकी प्रगतिवाद-विरोधी स्थापनाओं का खंडन किया।"8 अब मूल प्रश्न जो है कि व्यवस्था द्वारा पैदा किया गया यह अंधेरा क्या आज और घना नहीं हुआ है? बेशक! मुक्तिबोध के जिस चांद के टेढ़े मुंह से हम परिचित हैं, वह आज के अंधेरे में और विकृत हो गया है। भूल-गलती से आज उस व्यवस्था का न सिर्फ विस्तार हुआ है, बल्कि वह और भी सघन हुआ है, जिसे किसी रूप में सही नहीं कहा जा सकता।

आज 'जनता का, जनता के द्वारा और जनता के लिए शासन' का नारा एक पोपलेबाजी बनकर रह गई है। जनता बेबस झुनझुना बन गई है। हिंदुस्तान चिथड़े में लिपट रहा है। एक ओर अन्नदाता हैं, जो फांके बिताकर मर रहे हैं, दूसरी ओर जनता के नाम पर खड़ी सरकार है, जो धीरे-धीरेकरकेनसिर्फदेशकेउपक्रमोंको,बल्किअब देश को भी अदानी-अंबानी के हाथों बेचने पर अमादा है। यही आम आदमी के लिए अंधेरे का वातावरण है। मुक्तिबोध इसी घोर अंधेरे में मठ और गढ़ तोड़ने की बात भी करते हैं-- "तोड़ने होंगे ही मठ और गढ़ सब।" कैसे हैं ये मठ और गढ़? आज के समय में ये मठ हैं-- पूंजी, धर्म, वर्ण, जाति के; जहां भोले-भाले लोगों को सिर्फ बेवकूफ बनाया जा रहा है। बाजारवाद के द्रुत विकास में नैतिक मूल्यों को हाशिए पर डाला जा रहा है। पूंजी रूपी मठ के द्वारा देश को जकड़ा जा रहा है, वहीं धर्म, वर्ण व जाति के मठ द्वारा व्यक्ति के दिलो-दिमाग पर बुरी तरह कब्जा कर उसे भावुक हृदय बना दिया जा रहा है।

एक मठ और है। वह है-- राजनीति। राजनीति आज सेवा नहीं, मेवा पाने का माध्यम बन गई है। बड़ी-बड़ी बातें की जा रही हैं। आधुनिक भारत बनाने के नारे दिए जा रहे हैं, जहां किसानों की आय दोगुनी कर उनके आत्मनिर्भर होने के दावे हैं, परंतु जमीनी हकीकत क्या है? "किसान पहले साहूकार का कर्जदार था, अब वह सरकार का कर्जदार और सरकारी कर्ज चुकाने के लिए सहकारी बैंकों का कर्जदार और सहकारी बैंकों का कर्ज चुकाने के

लिए सरकार का कर्जदार हो रहा है। यानी जब कर्ज चुकाना बिल्कुल असंभव हो जाता है, तब उसकी जमीन छीन जाना बिल्कुल स्वाभाविक हो उठता है।"9 स्पष्ट तौर पर यहां राजनीति के बीच प्रश्न चिन्ह हमारे राजनेताओं पर है। आज कौन है जो संसद पर गर्व करेगा? कौन है जिसे राजनेताओं पर गर्व होगा? आज देश की संसद और विधानसभाएं अरबपतियों का अड्डा बन कर रह गई हैं, जहां सैकड़ों अपराधी अपनी पूरी ताकत और रसूख के बल पर प्रवेश पा रहे हैं और स्वयं मदारी बन देशवासियों को बंदरिया की भांति नचा रहे हैं। लोकतंत्र के मंदिर में ऐसे दुराचारियों व अपराधियों का पहुंचना जनता की भूल-गलती का ही परिणाम है।

मुक्तिबोध अपने काव्य में पूंजीवादी सभ्यता की चर्चा विस्तार से करते हैं। गांधीजी का दर्शन 'हृदय परिवर्तन' पर आधारित था। उनका विचार था कि पूंजीपतियों का हृदय परिवर्तन अवश्य होगा और इस परिवर्तन से ही समाज में विषमता की खाई पटेगी। पर गांधीजी के इन विचारों के विपरीत मुक्तिबोध का चिंतन था--

" इतने प्राण, इतने हाथ, इनती बुद्धि
...जितना ढोंग, जितना भोग है निर्बंध
इतना गूढ़, इतना गाढ़, सुंदर-जाल
केवल एक जलता सत्य देने टाल।"10

पूंजीवाद के इसी गूढ़, गाढ़, भोग व शोषणमूलक स्वरूप के कारण मुक्तिबोध इसे जन-विरोधी मानते हैं। उनका स्पष्ट विचार है--

"वर्तमान समाज चल नहीं सकता
पूंजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता..।"11

वस्तुतः मुक्तिबोध पूंजीपतियों व पूंजीवाद के लूट-खसोट भरे मनुष्य विरोधी चरित्र को भली-भांति समझ गए थे। उन्होंने भांप लिया था कि यह पूंजीवाद अमानवीय है, जो भविष्य में और ज्यादा आक्रामक होगा। कविता में उनकी यह व्यक्त चिंता आज खुलकर सामने आ रही है। 'सारी दुनिया उसके चरणों पर नाक रगड़ रही है। बादशाह उसका बंदा, वजीर उसके गुलाम, संधि-विग्रह की कुंजी उसके हाथ में, दुनिया उसकी महत्वाकांक्षाओं के सामने सिर झुकाए हुए, हर मुल्क में उसका बोलबाला।' जब पूरी दुनिया उसके गिरफ्त में है, तो भारत में वह अपना पांव कैसे नहीं पसार सकता ! भारत का लोकतंत्र आज इससे बुरी तरह प्रभावित हो रहा है। साहित्य, संगीत और कला-- सभी इसकी दहेली पर मत्था टेक रहे हैं। देश की सत्ता इनके द्वारा ही संचालित हो रही है। लोकतंत्र के चौथे स्तंभ पर भी इसका भूत चढ़ा हुआ है। हर ओर लूट और झूठ का साम्राज्य फैला हुआ है। सरकारी क्षेत्र में आम आदमी के पैसों की लूट-खसोट बदस्तूर जारी है। इस लूट को छिपाने के लिए झूठ की रचना हो रही है। सरकार 'कारपोरेट इंटरेस्ट' को सर्वोपरि मान रही है। सरकारी उपक्रमों को बेचा जा रहा है। सरकारी व प्राकृतिक संसाधनों की लूट जारी है, लेकिन इसे 'विकास' की संज्ञा दे लोगों को मूर्ख बनाया जा रहा है। कारण, यही वो 'कारपोरेट घराना' है, जो राजनीतिक पार्टियों को फिर से सत्ता की चौखट पर पहुंचाने वाली है।

आज देश की एक बड़ी आबादी गरीबी रेखा से नीचे अभिशप्त जीवन जीने को बेबस है। पर बड़े-बड़े नारों में उनके जीवन की मूलभूत जरूरतें भी पूरी होने का इंतजाम नहीं किया जा रहा है। वर्षों से आश्वासनों का सूर्य कभी अस्त होने का नाम नहीं ले रहा। एक चमत्कार है, जिसने मायाजाल की सृष्टि की है; परंतु यह आश्वासन जमीनी हकीकत से कोसों दूर है। असल में यह साजिश है, 'किस्मत की नवाजिश नहीं / कि हर कश्ती किनारे पर पहुंचते ही उलट जाए।' इसी का परिणाम है कि आज किसान आत्महत्या कर रहा है, श्रमिक कमजोर वर्ग के लोग सताए व मारे

जा रहे हैं, श्रमिक अपने श्रम से निर्वासित है। पूंजी व सत्ता की इस सांठगांठ से उत्पन्न विकृति को समझ जाने के कारण ही शायद मुक्तिबोध को चांद का मुंह टेढ़ा लगा था।

आज हमारा समय, समाज व देश जिन चुनौतियों से जूझ रहा है, उसके जिम्मेवार निश्चय ही हमारे देश के कर्णधार व नीतियों के निर्माता हैं। उन्होंने हमारे देश को इस तरह बाजार में तब्दील कर दिया है, जहां हर चीज का सौदा हो रहा है, हर चीज बिक रही है-- फिर चाहे वह कला, साहित्य, संस्कृति हो या ईमान। इसी कारण चारों ओर स्वार्थ का अंधेरा है, जहां हर व्यक्ति, हर वर्ग, हर संस्थान अपने-अपने हितों को साधने के लिए चुप बैठे हैं:

"सब चुप, साहित्यिक चुप और कविजन निर्वाक्
चिंतक, शिल्पकार, नर्तक चुप हैं..।"12

इस स्थिति में देश अपने मूल्य व स्थिति को खोकर गर्त की ओर जा रहा है, मर रहा--

"ज़्यादा लिया और दिया बहुत-बहुत कम
मर गया देश, अरे, जीवित रह गये तुम...।"13

इसी स्वार्थ लोलुपता और चुप्पी का फायदा सत्ताधारियों ने उठाया है और निराला के शब्दों में कहें तो 'राजे ने अपनी रखवाली करने' में समर्थता हासिल कर ली है।

स्पष्ट है मुक्तिबोध अपने साहित्य में जिस परिदृश्य को प्रस्तुत करते हैं, जिन समस्याओं का उद्घाटन करते हैं, वह सिर्फ 60' के दशक की सच्चाई नहीं थी, अपने चरम रूप में आज की भी है। उस सच्चाई की शुरुआत भले ही 50'-60' के दशक में ही हो गई थी, पर उसका उग्र रूप आज 21वीं शताब्दी में दिखाई दे रहा है, जहां चारों ओर लूट- खसोट का साम्राज्य है, पूंजी की पूजा है, सत्ता का आतंक है, चापलूसों की भरमार है, बाजार का चकाचौंध है, किसानों की दीनता है, मजदूरों की श्रमहीनता है।

संदर्भ- सूची

1. काव्य गौरव, संपादक- डॉ. रामदरश मिश्र, वाणी प्रकाशन, संस्करण- 2006, पृ. 152
2. जन-कवि, संपादक- विजय बहादुर सिंह, वाणी प्रकाशन, संस्करण- 2015, पृ. 269
3. एकत्र, संपादक- डॉ. बच्चन सिंह, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, संस्करण- 2007, पृ. 59
4. साये में धूप, दुष्यंत कुमार, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण- 2008, पृ. 64
5. संचयन आधुनिक हिंदी कविता, संपादक- डॉ. चंद्रकला पांडेय, आनंद प्रकाशन, संस्करण- 2004, पृ. 66
6. वही, पृ. 129
7. मुक्तिबोध: ज्ञान और संवेदना, नंदकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन, संस्करण- 2005, पृ. 445
8. अंतस्थल का पूरा विप्लव: अंधेरे में, संपादक- निर्मला जैन, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण- 2000, पृ. 89
9. मुक्तिबोध: ज्ञान और संवेदना, नंदकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन, संस्करण- 2005, पृ. 129
10. हिंदी आलोचना, विश्वनाथ त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, संस्करण- 2007, पृ. 136
11. संचयन आधुनिक हिंदी कविता, संपादक- डॉ. चंद्रकला पांडेय, आनंद प्रकाशन, संस्करण- 2004, पृ. 163
12. संचयन आधुनिक हिंदी कविता, संपादक- डॉ. चंद्रकला पांडेय, आनंद प्रकाशन, संस्करण- 2004, पृ. 163
13. संचयन आधुनिक हिंदी कविता, संपादक- डॉ. चंद्रकला पांडेय, आनंद प्रकाशन, संस्करण- 2004, पृ. 143